जम्मू और कश्मीर राज्य

बनाम

बख्शी गुलाम मोहम्मद

6 मई, 1966

[ए. के. सरकार, मुख्य न्यायाधीश, जे.आर. मुधोलकर, आर.एस. बछावत, जे.एम. शेलत और रघुबर दयाल, न्यायाधीशगण]

जम्मू और कश्मीर का संविधान, धारा 37-जम्मू एवं कश्मीर जांच आयोग अधिनियम 1962, उप धारा 3, 4(सी) और 10-पद पर रहते हुए मंत्री के कृत्य, क्या जांच अधिनियम- संविधान के धारा 37 के तहत जांच का विषय हो सकता है। इस में क्या ऐसी जांच पर रोक है- 'सार्वजनिक महत्व' और 'निश्चित' मामलों के मामले मे धारा 3, का अर्थ - जांच आयोग के समक्ष दायर शपथ पत्र - अभिसाक्षी से प्रति-परीक्षा करने का अधिकार, की सीमा।

प्रथम प्रतिवादी 1947 में जम्मू और कश्मीर राज्य की मंत्री परिषद के सदस्य बने और 1953 से जनवरी 1963 तक राज्य के प्रधान मंत्री रहे, जब उन्होंने इस्तीफा दे दिया। इसके बाद राज्य सरकार द्वारा जम्मू और कश्मीर जांच आयोग अधिनियम 1962 के धारा-3 के तहत एक अधिसूचना जारी की गई; प्रथम प्रतिवादी और उसके परिवार के कुछ विशिष्ट सदस्यों द्वारा उसके कार्यकाल के दौरान अर्जित की गई संपत्ति की जांच के लिए एक आयोग की स्थापना की गई; आयोग को यह भी जांचना था कि क्या इस संपत्ति को प्राप्त करने में पहले प्रतिवादी या उक्त रिश्तेदारों द्वारा अपने आधिकारिक पद का कोई दुरुपयोग किया गया था। इस प्रकार नियुक्त आयोग ने फरवरी 1965 और अगस्त 1965 के बीच कुछ बैठकें आयोजित कीं जिनमें पहले प्रतिवादी ने भाग लिया। सितंबर 1965 में उन्होंने जम्मू-कश्मीर उच्च न्यायालय के समक्ष एक रिट याचिका दायर की और उच्च न्यायालय ने उक्त याचिका को स्वीकार करते हुए जांच शुरू करने वाली अधिसूचना को रद्द कर दिया और आयोग की कार्यवाही को रद्द कर दिया। राज्य ने न्यायालय में अपील की।

अभिनिर्धारित; (i) जम्मू और कश्मीर के संविधान की धारा 37 विधान सभा के प्रति मंत्रियों की सामूहिक जिम्मेदारी की बात करती है। इसका मतलब केवल यह है कि मंत्रिपरिषद को एक साथ खड़ा होना होगा या गिरना होगा, प्रत्येक सदस्य किसी अन्य की कार्रवाई के लिए जिम्मेदार होगा। इस धारा का मतलब यह नहीं है कि कोई मंत्री अपने कार्यों के लिए केवल विधानमंडल के प्रति जिम्मेदार है और उसके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती है। आपराधिक या कपटपूर्ण कृत्यों को छोड़कर, कानून के सामान्य पाठ्यक्रम में, जब तक कि विधायिका ने एक प्रस्ताव द्वारा इसकी मांग नहीं की। इस आशय का कोई भी ब्रिटिश सम्मेलन, यदि कोई हो, यह नहीं कहा जा सकता कि इसे धारा 37 द्वारा अपनाया गया है, इसके अलावा, विधानमंडल के प्रति जिम्मेदारी मंत्रिपरिषद की है, न कि उनकी, जो पहले प्रतिवादी की तरह मंत्री नहीं रहे। [405सी,ई]।

(ii जांच आयोग अधिनियम की धारा 3 स्पष्ट रूप से सरकार के साथ-साथ विधानमंडल के दोनों सदनों को भी जांच शुरू करने की कार्रवाई करने का अधिकार देती है। इसे बनाते समय, विधानमंडल ने स्पष्ट रूप से यह नहीं माना था कि कोई ऐसी प्रथा या धारा 37 में ऐसी कोई बात थी, जो सरकार या विधान परिषद के कहने पर इस अधिनियम के तहत जांच आयोग गठित किए जाने से रोकती हो। [405 एफ जी]

(iii) पद पर रहते हुए किसी मंत्री द्वारा किए गए कार्य, पद छोड़ने के बाद भी सार्वजनिक महत्व के विषय बने रहते हैं; उनका स्वरूप नहीं बदल सकता। जब यह आरोप लगाया जाता है कि किसी मंत्री ने अपनी आधिकारिक स्थिति का दुरुपयोग करके अपने और अपने मित्रों के लिए अकूत संपत्ति अर्जित की है, तो इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि यह मामला सार्वजनिक महत्व का है। कोई बात केवल इसलिए सार्वजनिक महत्व की नहीं रह जाती, क्योंकि प्रस्ताव यह है कि आरोपों की जाँच की जाए, न कि भविष्य में होने वाली चूकों को रोकने के लिए उठाए जाने वाले कदमों की। न ही जनता आंदोलन की कमी यह दिखा सकती है कि जिन तथ्यों की जांच की जानी है, वे जनता महत्व के नहीं हैं। [407 ई जी ; 408-जी]

राम कृष्ण डालमिया बनाम श्री न्यायमूर्ति एस. आर. तेंडोलकर, [1959] एस सी आर 279, का उल्लेख किया गया।

iv) यह कहना गलत है कि उल्लिखित आरोप निश्चित नहीं हैं, या यह कि जांच अधिनियम के तहत उनकी जांच करने का कोई प्रावधान नहीं है। [409 ई एफ]

v) अधिनियम की धारा 10 के प्रावधानों से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि कोई जांच आयोग किसी व्यक्ति के आचरण की जांच केवल तभी कर सकता है, जब मुख्य

जांच किसी अन्य विषय से संबंधित हो। जो कार्य परोक्ष रूप से किया जा सकता है, उसे स्पष्टतः प्रत्यक्ष रूप से भी किए जाने योग्य माना जाना चाहिए था। [411बी]

vi) मामले के तथ्यों के आधार पर, यह नहीं कहा जा सकता कि जाँच *दुर्भावनापूर्ण* थी। [412 एफ]

vii) मंत्रिमंडल के उत्तरदायित्व के सिद्धांत का यह अर्थ नहीं है कि यदि मंत्रिमंडल के किसी सदस्य के विरुद्ध कोई जाँच की गई हो तो यह अनुच्छेद 14 के अन्तर्गत भेदभाव होगा। प्रतिवादी स्वयं एक वर्ग में था और वर्गीकरण उचित था। [414ए-बीएल]

viii) प्राकृतिक न्याय के नियम की केवल यही अपेक्षा है कि सुनवाई का अवसर दिया जाए। जब आयोग ने पहले प्रतिवादी को उन सभी गवाहों से प्रति-परीक्षा करने की अनुमति देने से इनकार कर दिया, जिन्होंने उसके विरुद्ध शपथ-पत्र दाखिल किए थे, तब नैसर्गिक न्याय के किसी भी नियम का उल्लंघन नहीं हुआ। [415 जी]

मींगलस टी एस्टेट बनाम उनके कामगार, [1964]2 एस सी आर 165 और नगेन्द्र नाथ बोरा बनाम आयुक्त ऑफ हिल्स डिवीजन एंड अपील्स, असम [1958] *एस सी आर* 1240

ix) अधिनियम की धारा 10 केवल उन व्यक्तियों को प्रति-परीक्षा का अधिकार देती है, जो आयुक्त के समक्ष मौखिक साक्ष्य देते हैं। [416 एफ]

x) अधिनियम की धारा 4(सी) आयोग के समक्ष उपस्थित होने वाले किसी पक्ष को यह अधिकार प्रदान नहीं करती कि वह शपथ-पत्र के माध्यम से साक्ष्य देने वाले किसी गवाह को, उसकी प्रति-परीक्षा के लिए, प्रस्तुत किए जाने की मांग करे। आयोग, निस्संदेह, ऐसे मामले में प्रति-परीक्षा की अनुमति देगा जहाँ उसे यह आवश्यक प्रतीत होता है। [417ई]

सिविल अपीलीय क्षेत्राधिकार: सिविल अपील सं. 1102/1966

जम्मू और कश्मीर उच्च न्यायालय के निर्णय और आदेश, दिनांक 27 दिसंबर, 1965 (रिट याचिका सं. 67, 1965) के विरुद्ध अपील।

सी. के. दफ्तरी, महान्यायवादी, एस. वी. गुप्ते, महा याचक, जसवंत सिंह, महाधिवक्ता, जम्मू और कश्मीर राज्य के लिए। एच. आर. खन्ना, एस. जावली, रविंदर नारायण, अपीलकर्ता कि ओर से।

जी. बी. सेन, एन. श्रॉफ, एम. के. बनर्जी। बी. एन. किरपाल, आर. के. कौल, आर. एन. कौल। पी. एल. हांडू, ललित भसीन और टी. आर. भसीन उत्तरदाता कि ओर से।

कोर्ट का फैसला सुनाया गया।

सरकार, मुख्य न्यायाधीश। यह अपील जम्मू और कश्मीर राज्य, उस राज्य के मुख्यमंत्री जी. एम. सादिक और उसके गृह मंत्री डी. पी. धर की ओर से दायर की गई है। इस अपील का विरोध प्रतिवादी संख्या 1, बख्शी गुलाम मोहम्मद ने किया है। दूसरे प्रतिवादी, राजगोपाला अय्यंगर, जो इस न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश हैं, इस न्यायालय में अथवा निचली अदालत में उपस्थित नहीं हुए हैं। हमारे समक्ष चल रही कार्यवाही में ये ही पक्षकार हैं।

1947 में जम्मू और कश्मीर राज्य के भारत में विलय के बाद, वहाँ शेख मोहम्मद अब्दुल्ला की प्रधानमंत्री के रूप में एक उत्तरदायी सरकार का गठन किया गया। उस सरकार में बख्शी गुलाम मोहम्मद उप-प्रधानमंत्री थे और जी. एम. सादिक भी मंत्रिमंडल में शामिल थे। 1953 में शेख मोहम्मद अब्दुल्ला को उनके पद से हटा दिया गया और एक नई सरकार बनाई गई, जिसमें बख्शी गुलाम मोहम्मद को प्रधानमंत्री बनाया गया और जी. एम. सादिक तथा डी. पी. धर को मंत्रिमंडल में शामिल किया गया। 26 जनवरी, 1957 को जम्मू और कश्मीर के लिए एक नया संविधान बनाया गया। इस संविधान के तहत हुए पहले चुनावों में, 'राष्ट्रीय सम्मेलन' नामक पार्टी को सबसे ज़्यादा वोट मिले। बख्शी गुलाम मोहम्मद और सादिक इसी पार्टी के सदस्य थे। इसके बाद बख्शी गुलाम मोहम्मद को प्रधानमंत्री बनाकर एक मंत्रालय का गठन किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि जी. एम. सादिक ने 1957 के कुछ समय बाद पार्टी छोड़ दी थी, और दिसंबर 1960 में डी. पी. धर के साथ वे फिर से पार्टी में शामिल हो गए; इसके बाद उन्हें मंत्रिमंडल में शामिल कर लिया गया। अगले आम चुनाव 1962 में हुए। एक बार फिर, 'राष्ट्रीय सम्मेलन' पार्टी सत्ता में आई। जो सरकार बनी, उसमें बख्शी गुलाम मोहम्मद प्रधानमंत्री बने और जी. एम. सादिक तथा डी. पी. धर को मंत्रिमंडल में शामिल किया गया। सितंबर 1963 में, बख्शी गुलाम मोहम्मद ने 'कामराज योजना' के तहत मंत्रिमंडल से इस्तीफा दे दिया और उनकी जगह शमसुद्दीन प्रधानमंत्री बने। यह ध्यान देने योग्य बात है कि बख्शी गुलाम मोहम्मद 1947 से 1953 तक राज्य के उप-प्रधानमंत्री रहे और 1953 से 1963 तक प्रधानमंत्री। इस प्रकार, उन्होंने एक के बाद एक, कुल मिलाकर लगभग सोलह वर्षों तक इन पदों पर कार्य किया।

फरवरी 1964 में, शमसुद्दीन ने पद छोड़ दिया और जी. एम. सादिक के प्रधानमंत्री बनने के साथ एक नई सरकार का गठन हुआ। कहा जाता है कि इसके कुछ ही समय बाद, उनके और बख्शी गुलाम मोहम्मद के बीच राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता शुरू हो गई। अगस्त 1964 में, एक अभिलेख जारी किया गया जिसमें राज्य की विधायिका का सत्र अगले सितंबर में आयोजित करने की तिथि निर्धारित की गई थी। बख्शी गुलाम मोहम्मद के अनुसार, इसके बाद कुछ विधायक जी. एम. सादिक के मंत्रिमंडल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव लाना चाहते थे, और 21 सितंबर 1964 तक इस अविश्वास प्रस्ताव को विधानसभा के

अधिकांश सदस्यों का समर्थन प्राप्त हो चुका था। 22 सितंबर, 1964 को सुबह 5 बजे, बख्शी गुलाम मोहम्मद और उनके कुछ समर्थकों को 'भारत के नियमों का अंतर' के तहत गिरफ़्तार कर लिया गया। उसी दिन सुबह 8:30 बजे, कुछ सदस्यों के हस्ताक्षरों वाला अविश्वास प्रस्ताव का अभिलेख विधानसभा सचिव को सौंप दिया गया। जी. एम. सादिक ने प्रस्ताव के सूचना पर किए गए हस्ताक्षरों की प्रामाणिकता को चुनौती दी और इस बात से भी इनकार किया कि इसे विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त था। सुबह 9 बजे, विधान सभा, जिसकी बैठक अध्यक्ष द्वारा उस दिन होनी थी, सदर-ए-रियासत (राज्य के संवैधानिक प्रमुख) के निर्देशों पर स्थगित कर दिया गया। नवंबर 1964 में किसी समय, बख्शी गुलाम मोहम्मद की रिहाई के लिए *'बंदी प्रत्यक्षीकरण'* रिट की एक याचिका जम्मू और कश्मीर के उच्च न्यायालय में प्रस्तुत की गई। 15 दिसंबर, 1964 को, याचिका पर सुनवाई और निर्णय होने से पहले ही, बख्शी गुलाम मोहम्मद को राज्य सरकार द्वारा हिरासत से रिहा कर दिया गया। 30 जनवरी, 1965 को, राज्य सरकार द्वारा एक अधिसूचना जारी की गई, जिसके तहत एन. राजगोपाला अय्यंगर की अध्यक्षता में एक जांच आयोग नियुक्त किया गया, जिसका उद्देश्य जांच करना था। (i) अक्टूबर 1947 और अक्टूबर 1963 में बख्शी गुलाम मोहम्मद और उनके परिवार के सदस्यों तथा अन्य रिश्तेदारों की आस्तियों और आर्थिक संसाधनों की प्रकृति और सीमा आदेश की पहली अनुसूची में उल्लिखित है; और (ii) यह कि चाहे इस अवधि के दौरान, बख्शी गुलाम मोहम्मद और अनुसूची में उल्लिखित अन्य व्यक्तियों ने, बख्शी गुलाम मोहम्मद द्वारा अपने आधिकारिक पद का दुरुपयोग करके, या पहली अनुसूची में उल्लिखित उपर्युक्त व्यक्तियों द्वारा, उनकी जानकारी, सहमति और मिलीभगत से उस पद का लाभ उठाकर, कोई संपत्ति, आर्थिक संसाधन या अन्य लाभ प्राप्त किए थे। अधिसूचना के शीर्ष में यह प्रावधान किया गया था कि (ii) इसके अंतर्गत जांच करते समय, आयोग केवल दूसरी अनुसूची में उल्लिखित आरोपों की ही जांच करेगा। यह यही अधिसूचना है जिसके कारण वर्तमान कार्यवाही शुरू हुई है।

आयोग ने फरवरी 1965 और अगस्त 1965 के बीच कुछ बैठकें कीं, जिनमें बख्शी गुलाम मोहम्मद ने हिस्सा लिया। 1 सितंबर, 1965 को, बख्शी गुलाम मोहम्मद ने जम्मू और कश्मीर संविधान की धारा 103 और 104 के तहत (जो भारतीय संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के बराबर हैं) जम्मू और कश्मीर उच्च न्यायालय में एक याचिका दायर की, इस याचिका में उन्होंने अधिसूचना को रद्द करने, आयोग द्वारा तब तक की गई कार्यवाही को खत्म करने, और कुछ अन्य राहतों की मांग की, जिनका यहाँ ज़िक्र करना ज़रूरी नहीं है। इस याचिका पर उच्च न्यायालय के तीन विद्वान न्यायधीशों की पीठ ने सुनवाई की। उच्च न्यायालय ने याचिका मंज़ूर कर ली, अधिसूचना रद्द कर दिया और आयोग की कार्यवाही को खत्म कर दिया। यह याचिका उच्च न्यायालय के इस फ़ैसले के ख़िलाफ़ है। उच्च न्यायालय में, याचिका के समर्थन में आठ आधार पेश किए गए थे। जिनमें से तीन को खारिज कर

दिया गया, लेकिन बाकी को स्वीकार कर लिया गया—कुछ को सर्वसम्मति से और कुछ को विद्वान न्यायधीशों के बहुमत से। हालाँकि, इस न्यायालय में उन सभी पर ज़ोर नहीं दिया गया है।

यह अधिसूचना जम्मू और कश्मीर जांच आयोग अधिनियम, 1962 के तहत जारी की गई थी। पहला तर्क यह दिया गया कि यह अधिसूचना अधिनियम के अनुसार उचित नहीं थी, क्योंकि जम्मू और कश्मीर संविधान के तहत, एक मंत्री अपने कार्यों के लिए केवल विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी होता है; और उसके विरुद्ध, सामान्य न्यायालयों में आपराधिक और अपकृत्य संबंधी मामलों को छोड़कर, तब तक कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती जब तक कि विधानमंडल किसी प्रस्ताव के माध्यम से इसकी मांग न करे। इस तर्क का सार यह है कि इस अधिनियम के तहत किसी मंत्री के कार्यों की जांच का निर्देश तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि विधानमंडल स्वयं इसकी पहल न करे; सरकार के किसी आदेश द्वारा ऐसी जांच का निर्देश नहीं दिया जा सकता। यह तर्क जम्मू और कश्मीर संविधान की धारा 37 पर आधारित है। उस धारा में कहा गया है कि मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होगी। यह तर्क दिया जाता है कि इसका तात्पर्य यह है कि पद पर रहते हुए मंत्री जो कुछ भी करता है, उसके लिए वह किसी अन्य प्रकार से उत्तरदायी नहीं है। यह भी कहा जाता है कि ब्रिटेन में यही परिपाटी है और जम्मू और कश्मीर राज्य में भी इसे अपनाया गया है।

हमें इस तर्क को समझने में कुछ कठिनाई महसूस होती है। ब्रीटैन कि परंपरा से संबंधित बात पर हमें ज़्यादा रुकने की ज़रूरत नहीं है। यह साबित नहीं किया गया है कि ऐसी कोई परंपरा भले ही वह इंग्लैंड में मौजूद हो (जिसके बारे में हम कुछ नहीं कहते) जम्मू और कश्मीर राज्य में अपनाई गई है। जम्मू और कश्मीर का संविधान एक लिखित दस्तावेज़ है, और हम केवल इसके प्रावधानों से ही निर्देशित हो सकते हैं। यह कहा जाता है कि धारा 37 यह संकेत देती है कि ब्रीटैन कि परंपरा को जम्मू और कश्मीर राज्य द्वारा अपनाया गया था। हम इस विचार से सहमत नहीं हो सकते। धारा 37 मंत्रियों की विधान सभा के प्रति सामूहिक ज़िम्मेदारी की बात करती है। इसका सीधा सा मतलब यह है कि मंत्रिपरिषद को एक साथ ही बने रहना होगा या एक साथ ही गिरना होगा; यानी हर सदस्य किसी भी अन्य सदस्य के कार्यों के लिए ज़िम्मेदार होगा। यहाँ ज़ोर 'सामूहिक ज़िम्मेदारी' पर है, न कि 'व्यक्तिगत ज़िम्मेदारी' पर। विधायिका द्वारा मंत्रिपरिषद की इस ज़िम्मेदारी को प्रभावी ढंग से लागू करने का एकमात्र तरीका यह है कि वह मतदान के ज़रिए मंत्रिपरिषद को सत्ता से हटा दे। इसके अलावा, यह ज़िम्मेदारी मंत्रिपरिषद की होती है। अधिसूचना जारी होने की तारीख़ पर, बख्शी गुलाम मोहम्मद उस मंत्रिपरिषद का हिस्सा नहीं थे। उस तारीख को, धारा 37 के तहत विधानमंडल के प्रति उनकी कोई ज़िम्मेदारी नहीं थी। वह धारा इस मामले पर

लागू नहीं होती। इसके अलावा, जाँच अधिनियम की धारा 3 में कहा गया है, "सरकार ..... कर सकती है और ..... करेगी, यदि इस संबंध में जम्मू और कश्मीर राज्य विधानसभा या जम्मू और कश्मीर विधान परिषद द्वारा कोई प्रस्ताव पारित किया जाता है, तो अधिसूचना द्वारा ..... एक जाँच आयोग नियुक्त करेगी।" इसलिए, ऐसा प्रतीत होता है कि इस अधिनियम ने सरकार को एक आयोग गठित करने की शक्ति दी, और साथ ही विधानमंडल के दोनों सदनों को भी यह माँग करने की शक्ति दी कि एक आयोग गठित किया जाए। यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि विधान परिषद को भी एक आयोग नियुक्त करवाने का अधिकार है, हालाँकि संविधान की धारा 37 में मंत्रियों की उस परिषद के प्रति जवाबदेही के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है। यह अधिनियम राज्य विधानमंडल द्वारा पारित किया गया था, जिसमें दोनों सदन शामिल थे। इससे यह पता चलता है कि विधानमंडल ने ऐसा नहीं माना कि कोई ऐसी प्रथा या धारा 37 में ऐसी कोई बात थी, जो सरकार या विधान परिषद के आग्रह पर इस अधिनियम के तहत एक जाँच आयोग गठित किए जाने से रोकती हो। उच्च न्यायालय ने इस तर्क को अस्वीकार कर दिया था, और हमारा मानना है कि उसने ऐसा बिल्कुल सही किया।

याचिका के समर्थन में अगला तर्क यह दिया गया कि अधिनियम के तहत किसी सार्वजनिक महत्व के विशिष्ट मामले की जांच के लिए एक आयोग गठित करने की अनुमति है, और जिन मामलों की जांच के लिए यह आयोग गठित किया गया था, वे इस श्रेणी के नहीं थे। उच्च न्यायालय के सभी विद्वान न्यायाधीशों ने इस तर्क को स्वीकार किया। तथापि, हम इसे स्वीकार करने में असमर्थ हैं। यह सत्य है कि किसी आयोग का गठन केवल सार्वजनिक महत्व के किसी विशिष्ट मामले की जांच के लिए ही किया जा सकता है। लेकिन हमारा मानना है कि जिन मामलों की जाँच करने के लिए आयोग से कहा गया था, वे इसी तरह के मामले थे। पहली जाँच इस बारे में थी कि बख्शी गुलाम मोहम्मद और अधिसूचना में उल्लिखित अन्य व्यक्तियों के पास अक्टूबर 1947 और अक्टूबर 1963 में कौन-सी संपत्तियाँ थीं; और दूसरी जाँच इस बारे में थी कि क्या इस सोलह वर्ष की अवधि के दौरान जब उन्होंने प्रधानमंत्री और उप-प्रधानमंत्री के पद पर कार्य किया उन्होंने और नामित अन्य व्यक्तियों ने अपने आधिकारिक पद का दुरुपयोग करके, या उनकी सहमति, जानकारी अथवा मिलीभगत से दूसरों द्वारा उस पद का लाभ उठाकर, कोई संपत्ति या आर्थिक लाभ प्राप्त किया था। यह जाँच केवल अधिसूचना की दूसरी अनुसूची में सूचीबद्ध उदाहरणों तक ही सीमित थी। उस अनुसूची में 38 उदाहरण शामिल हैं, जिनमें से पहला उदाहरण—सार रूप में—पहले उल्लिखित जाँच के दूसरे बिंदु को ही दोहराता है। अन्य मदें ऐसे अलग-अलग मामलों से संबंधित हैं जिनमें लोगों को, अपने आधिकारिक पद के दुरुपयोग के ज़रिए डाले गए दबाव के तहत, अपनी संपत्ति से हाथ धोना पड़ा और सार्वजनिक धन का गबन किया गया। इस अनुसूची के अंत में एक नोट है जिसमें कहा गया है कि आरोप का मुख्य बिंदु यह था कि बख्शी गुलाम

मोहम्मद ने अपने आधिकारिक पद का दुरुपयोग किया, और अन्य नामित व्यक्तियों ने उनकी सहमति, जानकारी या मिलीभगत से उस पद का लाभ उठाकर ऐसे कृत्य किए जिनके ज़रिए उन्होंने अकूत संपत्ति अर्जित की। इसलिए, यह जाँच बख्शी गुलाम मोहम्मद और नामित व्यक्तियों के पास क्रमशः अक्टूबर 1947 और अक्टूबर 1963 में मौजूद संपत्तियों के संबंध में की गई थी, और यह पता लगाने के लिए की गई थी कि क्या उन्होंने इस अवधि के दौरान, बख्शी गुलाम मोहम्मद के आधिकारिक पद के दुरुपयोग या लाभ उठाने के ज़रिए, दूसरी अनुसूची में उल्लिखित विभिन्न कृत्यों द्वारा संपत्ति अर्जित की थी।

पहला सवाल यह है कि क्या ये मामले सार्वजनिक महत्व के हैं। दो विद्वान न्यायाधीशों ने माना कि ये नहीं हैं, जबकि तीसरे ने इसके विपरीत राय रखी। इसके लिए दो आधार दिए गए। पहला, यह कहा गया कि ये मामले सार्वजनिक महत्व के नहीं थे, क्योंकि अधिसूचना जारी होने की तारीख को इनका सार्वजनिक महत्व होना ज़रूरी था, और उस तारीख को ऐसा नहीं था, क्योंकि बख्शी गुलाम मोहम्मद उस समय सरकार में कोई पद धारण नहीं करते थे। इसके बाद यह कहा गया कि जिस आचरण के बारे में शिकायत की गई थी, उसके संबंध में किसी भी तरह के सार्वजनिक विरोध का कोई सबूत नहीं था, और इससे यह ज़ाहिर होता है कि ये मामले सार्वजनिक महत्व के नहीं थे। हमें नहीं लगता कि इन दोनों में से कोई भी आधार इस निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि ये मामले सार्वजनिक महत्व के नहीं थे। जहाँ तक पहले आधार की बात है, तो यह कल्पना करना कठिन है कि मंत्रियों की परिषद अपने ही प्रमुख, यानी प्रधानमंत्री के कार्यों की जाँच के लिए कोई आयोग कैसे गठित कर सकती है, जबकि वह अभी भी पद पर आसीन हों। यह निश्चित रूप से एक बहुत ही असामान्य घटना होगी। यदि मंत्रिपरिषद के बाकी सदस्य किसी जाँच का प्रस्ताव करते हैं, तो यह उम्मीद की जा सकती है कि प्रधानमंत्री उनसे इस्तीफ़ा माँग लेंगे। किसी भी स्थिति में, वह स्वयं पद छोड़ देंगे। यदि वह पहला रास्ता चुनते हैं, तो कोई आयोग गठित नहीं किया जाएगा, क्योंकि जाँच चाहने वाले मंत्री तब तक जा चुके होंगे। यदि वह स्वयं पद छोड़ देते हैं, तो आयोग ऐसे व्यक्ति के कार्यों की जाँच के लिए गठित किया जाएगा जो अब पद पर नहीं है; और इस कारण से—यदि उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीश सही हैं—तो ऐसे मामलों की जाँच की जाएगी जो सार्वजनिक महत्व के नहीं हैं। इसका परिणाम यह होगा कि इस अधिनियम के तहत किसी प्रधानमंत्री के कार्यों की जाँच कभी नहीं की जा सकेगी। हमें इस दृष्टिकोण को स्वीकार करना अत्यंत कठिन प्रतीत होता है।

उच्च न्यायालय के इन विद्वान न्यायाधीशों ने यह राय ज़ाहिर की कि बख्शी गुलाम मोहम्मद के काम सार्वजनिक महत्व के होते, अगर वे पद पर होते; लेकिन जब अधिनियम जारी हुआ, तब वे पद पर नहीं थे, इसलिए उनके काम सार्वजनिक महत्व के नहीं रहे। यह राय बनाते समय, ऐसा लगता है कि उन्होंने इस न्यायालय द्वारा *'राम कृष्ण डालमिया*

बनाम श्री जस्टिस एस. आर. तेंडोलकर[1] मामले में की गई इस टिप्पणी को आधार बनाया है कि "किसी व्यक्ति का आचरण इतना खतरनाक रूप ले सकता है, और सार्वजनिक भलाई पर इतना बुरा असर डाल सकता है या डालने की धमकी दे सकता है, कि ऐसा आचरण सार्वजनिक महत्व का एक निश्चित मामला बन जाए, जिसके लिए तुरंत पूरी जाँच की ज़रूरत हो।" विद्वान न्यायाधीशों को लगा कि चूंकि बख्शी गुलाम मोहम्मद पद पर नहीं थे, इसलिए वे अब कोई नुकसान नहीं पहुँचा सकते थे; ज़ाहिर है, उन्हें लगा कि वे अपने कामों से अब सार्वजनिक भलाई को कोई खतरा नहीं पहुँचा सकते, और इसलिए वे *डालमिया मामले* में की गई टिप्पणी के दायरे से बाहर थे। हमारे मन में यह बात पूरी तरह साफ़ है कि यह इस न्यायालय की टिप्पणी की गलत व्याख्या है। जैसा कि माननीय न्यायाधीशों ने स्वयं भी उल्लेख किया है, यह न्यायालय सार्वजनिक महत्व के मामलों की कोई विस्तृत परिभाषा निर्धारित नहीं कर रहा था। किसी भी मामले में, जिस बात की जाँच की जानी होती है, वह अनिवार्य रूप से अतीत के कार्य ही होते हैं; और ये कार्य सार्वजनिक कल्याण को पहले ही प्रभावित कर चुके होते हैं, या भविष्य में ऐसा कर सकते हैं—इसी कारण वे सार्वजनिक महत्व के मामले बन जाते हैं। इस बात का कोई महत्व नहीं है कि जिन व्यक्ति ने वे कार्य किए थे, क्या वे अभी भी सत्ता में हैं और क्या वे उन कार्यों को दोहराने में सक्षम हैं। जाँच का उद्देश्य अनिवार्य रूप से यह पता लगाना नहीं होता कि वह व्यक्ति उन कार्यों को दोबारा करने की क्षमता रखता है या नहीं, जिन्हें वह पहले ही कर चुका है; बल्कि जाँच का मुख्य विषय तो स्वयं उसके द्वारा किए गए कार्य ही होते हैं। इस तथ्य से कि बख्शी गुलाम मोहम्मद अब अपने पद पर नहीं हैं, इस प्रश्न पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि उनके द्वारा पहले ही किए जा चुके कार्य सार्वजनिक महत्व के मामले हैं अथवा नहीं। अगर एक बार यह मान लिया जाए जैसा कि हमारे सामने माना गया था कि अगर वह पद पर होते, तो उनके काम सार्वजनिक महत्व के विषय होते, तो इसका मतलब यह स्वीकार करना होगा कि उनके काम इसी प्रकृति के थे। पद से उनके इस्तीफ़े से उस प्रकृति में कोई बदलाव नहीं आ सकता। ज़ाहिर है, एक मंत्री एक सार्वजनिक पद पर होता है। अगर उसके काम उसके पद से जुड़े होते हैं, तो वे अनिवार्य रूप से सार्वजनिक काम होते हैं। अगर वे काफ़ी गंभीर होते हैं, तो वे सार्वजनिक महत्व के विषय बन जाते हैं। जब यह आरोप लगाया जाता है, जैसा कि यहाँ लगाया गया है कि किसी मंत्री ने अपनी आधिकारिक स्थिति का दुरुपयोग करके अपने लिए, अपने रिश्तेदारों और दोस्तों के लिए अकूत संपत्ति जमा कर ली है, तो इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि यह मामला सार्वजनिक महत्व का है।

यह कहा गया था कि जाँच का उद्देश्य बख्शी गुलाम मोहम्मद पर मुकदमा चलाने के लिए सामग्री इकट्ठा करना था, और इसलिए, जिन मामलों की जाँच की जानी थी, वे सार्वजनिक महत्व के नहीं थे। हमारी राय में, यह तर्क भ्रामक है। यह सार्वजनिक महत्व का विषय है कि जो सार्वजनिक व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन करने में विफल रहते हैं, उन्हें उसके परिणामों का सामना करने के लिए जवाबदेह ठहराया जाए। यह निश्चित रूप से जनता

1. [1950] एस. सी. आर. 279

के लिए महत्व का विषय है कि मंत्रियों की ओर से हुई चूकों को उजागर किया जाए। सार्वजनिक जीवन की शुचिता, जिसमें जनता की गहरी दिलचस्पी होनी चाहिए, निश्चित रूप से सार्वजनिक महत्व का विषय है। लोगों को यह जानने का अधिकार है कि क्या उन्होंने अपने मामलों की बागडोर किसी अयोग्य व्यक्ति के हाथों में सौंपी है। ऐसा कहा जाता है कि अधिसूचना में भविष्य में ऐसी चूकों की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए उठाए जाने वाले कदमों के बारे में कुछ भी उल्लेख नहीं किया गया था। लेकिन, ऐसा करना उसके लिए संभव नहीं था। तथ्यों का पता चलने से पहले, निवारक कदमों के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता था; क्योंकि वे कदम तथ्यों के अनुरूप ही होने चाहिए थे। इस मामले में प्रस्तावित जाँच, कथित चूकों का पता लगाने की प्रक्रिया के दौरान, इस बात का भी पता लगाएगी कि वे चूकें आखिर किस तरह से हुईं; और उस प्रक्रिया की जानकारी मिलने के बाद ही, उनसे निपटने के लिए उचित कदम तैयार किए जा सकते हैं।

यह तर्क भी दिया गया कि यह जाँच बख्शी गुलाम मोहम्मद के खिलाफ कदाचार के आरोपों से संबंधित थी, और 'जाँच अधिनियम' के तहत आरोपों की जाँच का प्रावधान नहीं था। हम इस बात से बिल्कुल भी सहमत नहीं हैं। आमतौर पर, जाँच किसी प्रश्न के संबंध में की जाती है। वह प्रश्न लगाए गए आरोपों के आधार पर उत्पन्न हो सकता है। '*डालमिया के मामले*[1] में ऐसी जाँच पर विचार किया गया था, जिसका आदेश—कम से कम आंशिक रूप से—एक बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठान के प्रभारी लोगों के खिलाफ लगाए गए आरोपों के संबंध में दिया गया था। आरोप, बहुत हद तक, अत्यधिक सार्वजनिक महत्व के प्रश्न खड़े कर सकते हैं। मान लीजिए, यह आरोप लगाया जाता है कि किसी शहर के लोग अस्वस्थता से पीड़ित हैं, और इसका कारण शहर प्रशासन द्वारा आपूर्ति किया गया दूषित जल है। यह नहीं कहा जा सकता कि खराब स्वास्थ्य की मौजूदगी और उसके कारणों से जुड़े ये आरोप, गंभीर सार्वजनिक महत्व के विषय नहीं हैं। ये आरोप तब भी उतने ही महत्वपूर्ण होते, भले ही यह पाया जाता कि लोगों का स्वास्थ्य खराब नहीं था और पानी भी दूषित नहीं था। यह भी नहीं कहा जा सकता कि आरोप कभी भी निश्चित नहीं हो सकते। वे उतने ही निश्चित हो सकते हैं, जितना कि कोई भी मौजूदा ठोस तथ्य। यह पूरी तरह इस बात पर निर्भर करता है कि आरोप क्या है।

फिर, इस सवाल पर आते हैं कि क्या बख्शी गुलाम मोहम्मद के खिलाफ लगाए गए आरोप सार्वजनिक महत्व के मामले नहीं थे, क्योंकि उन पर कोई सार्वजनिक आंदोलन नहीं हुआ था। खुद अधिसूचना और इस मामले में अपीलकर्ताओं की ओर से दायर शपथ पत्रों में असल में यह कहा गया है कि बख्शी गुलाम मोहम्मद के खिलाफ जनता की ओर से आरोप लगाए गए थे कि उन्होंने अपने पद का दुरुपयोग करके बहुत ज़्यादा दौलत जमा कर ली थी। लेकिन यह कहा गया कि इस बात का कोई सबूत नहीं था कि ये आरोप असल में लगाए गए थे। इस बात का सबूत है या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि अधिसूचना और शपथ पत्रों में दिए गए बयानों को स्वीकार किया जाता है या नहीं। हालाँकि, हम इस

1. [1950] एस. सी. आर. 279

बात से सहमत नहीं हो सकते कि कोई मामला तब तक सार्वजनिक महत्व का नहीं हो सकता, जब तक कि उस पर कोई सार्वजनिक आंदोलन न हुआ हो। हो सकता है कि जनता को स्थिति की गंभीरता का पता न हो। हो सकता है कि उन्हें तथ्यों की जानकारी न हो। जनता के कुछ सदस्यों को व्यक्तिगत मामलों की जानकारी हो सकती है, लेकिन पूरी जनता को उन सभी के बारे में पता न हो। हो सकता है कि सार्वजनिक आंदोलन को रोकने के लिए कुछ प्रभाव काम कर रहे हों। फिर से, कोई मामला सार्वजनिक महत्व का है या नहीं, यह मूल रूप से उसकी आंतरिक प्रकृति से ही तय किया जाना चाहिए। यदि कोई मामला अपनी प्रकृति से ही सार्वजनिक महत्व का है, तो केवल इसलिए उसका महत्व समाप्त नहीं हो जाता कि जनता ने उस पर कोई विरोध या आंदोलन नहीं किया। इस मामले को ही लें। मान लीजिए, सरकार हमारे देश में खनिज संपदा की जाँच के लिए एक आयोग का गठन करती है। इस बात की संभावना कम ही है कि जनता इस मामले पर कोई आंदोलन करेगी, क्योंकि उन्हें खनिज संपदा के बारे में कोई जानकारी ही नहीं होगी। क्या यह कहा जा सकता है कि यह जाँच सार्वजनिक महत्व के किसी मामले से संबंधित नहीं है, क्योंकि जनता ने इस पर कोई आंदोलन नहीं किया? इसका उत्तर स्पष्ट रूप से 'नहीं' में ही होगा। ऐसा तब भी होता, चाहे असल में वहाँ खनिज होते या नहीं। अधिसूचना में लगाए गए आरोपों पर अकेले विचार करते हुए, हमें पहले बताए गए कारणों से लगता है कि वे सार्वजनिक महत्व के मामले हैं, भले ही उन पर कोई सार्वजनिक आंदोलन न हुआ हो। यह कहा गया था कि जी. एम. सादिक, डी. पी. धर और कई अन्य लोगों ने बख्शी गुलाम मोहम्मद के प्रशासन की तारीफ़ की थी। उन्होंने निस्संदेह ऐसा किया था। लेकिन ये भाषण पार्टी की राजनीति के समर्थन में दिए गए थे। हो सकता है कि ये पूरे तथ्यों की जानकारी के बिना ही दिए गए हों। किसी भी स्थिति में, वे सार्वजनिक महत्व के मामले को ऐसे मामले में नहीं बदल सकते जो उस श्रेणी का न हो।

तब यह बात सामने लाई गई कि अधिसूचना में केवल इतना ही ज़िक्र था कि ये मामले सार्वजनिक महत्व के हैं, लेकिन यह नहीं कहा गया था कि ये 'निश्चित' रूप से सार्वजनिक महत्व के मामले हैं। जैसा कि हमने पहले भी बताया है, अधिनियम की यह शर्त है कि जिन मामलों की जाँच की जानी है, वे 'निश्चित' रूप से सार्वजनिक महत्व के मामले होने चाहिए। लेकिन हमारी राय में, अधिसूचना में "निश्चित" शब्द का छूट जाना कोई फ़र्क नहीं डालता। कोई भी न्यायालय यह तय कर सकता है कि जिन मामलों की जाँच की जानी है, वे 'निश्चित' रूप से सार्वजनिक महत्व के मामले हैं या नहीं। इस संदर्भ में 'निश्चित' का अर्थ ऐसी चीज़ से है जो अस्पष्ट न हो। उच्च न्यायालय के एक विद्वान न्यायाधीश ने यह माना कि दूसरी अनुसूची में बताए गए मामले अस्पष्ट थे, क्योंकि उनमें से कुछ उदाहरणों में कोई तारीख या वर्ष नहीं दिया गया था। उन्होंने यह भी कहा कि दूसरी अनुसूची के अंत में दिया गया नोट—जिसका ज़िक्र हमने पहले किया है—उससे अस्पष्टता और बढ़ गई है। हम

इस विचार से सहमत नहीं हो सकते। विद्वान न्यायाधीश के मन में ज़ाहिर तौर पर उन कार्यों का विवरण था। ज़्यादातर मामलों में, दूसरी अनुसूची में दिए गए विवरणों के आधार पर उन कार्यों की पहचान की जा सकती है। इसके अलावा, यह स्पष्ट है कि सुनवाई के दौरान उनकी पहचान की जानी थी; जब तक ऐसा नहीं किया जाता, तब तक न तो उन्हें साबित किया जा सकता था और न ही उन पर कोई ध्यान दिया जा सकता था। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि आयोग के समक्ष यह तर्क दिया गया हो कि कोई ऐसा मामला भी था जिसकी पहचान इस प्रकार नहीं की जा सकती थी। हम यह भी नहीं मानते कि दूसरी अनुसूची के अंत में, आरोपों के मुख्य आधार की ओर ध्यान दिलाने वाला टिप्पणी, किसी भी तरह की अस्पष्टता का संकेत देता है। अधिकांश आरोपों में यह स्पष्ट रूप से कहा गया था कि यह कार्य बख्शी गुलाम मोहम्मद के सरकारी पद के दुरुपयोग द्वारा, और दूसरों को उस पद का लाभ उठाने की अनुमति देकर किया गया था, यही वह बात है जिसने इन मामलों को 'सार्वजनिक महत्व' का विषय बना दिया और यह अतिरिक्त सावधानी के लिए ही था कि वह टिप्पणी जोड़ा गया, ताकि लगाए गए प्रत्येक आरोप के मुख्य आधार के संबंध में कोई भी संदेह शेष न रहे।

अधिनियम की धारा 10 के आधार पर जारी अधिसूचना की वैधता के विरुद्ध अगला बिंदु यह है:

> "10. (1) यदि जाँच के किसी भी चरण पर आयोग को यह आवश्यक प्रतीत होता है कि किसी व्यक्ति के आचरण की जाँच की जाए, अथवा यदि आयोग की यह राय है कि इस जाँच के परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति की प्रतिष्ठा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की संभावना है, तो आयोग उस व्यक्ति को जाँच के दौरान अपनी बात रखने तथा अपने बचाव में साक्ष्य प्रस्तुत करने का उचित अवसर प्रदान करेगा।"
>
> बशर्ते कि इस उप-धारा की कोई भी बात तब लागू नहीं होगी, जब किसी गवाह की विश्वसनीयता पर सवाल उठाया जा रहा हो।
>
> (2) सरकार, उप-धारा (।) में उल्लिखित प्रत्येक व्यक्ति, और आयोग की अनुमति से, कोई भी अन्य व्यक्ति जिसकी गवाही आयोग द्वारा दर्ज की गई है:
>
> (अ) आयोग के समक्ष उपस्थित होने वाले किसी भी व्यक्ति से प्रति-परीक्षा कर सकता है सिवाय उस व्यक्ति के जिसे स्वयं उसने या सरकार ने गवाह के तौर पर पेश किया हो;
>
> (ब) आयोग को संबोधित कर सकता है।

(3) यह तर्क दिया गया कि इससे यह ज़ाहिर होता है कि इस अधिनियम के तहत किसी व्यक्ति के आचरण की जाँच केवल आनुषंगिक रूप से ही की जा सकती है;

कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी जाँच तभी की जा सकती है, जब किसी अन्य विषय की जाँच के संदर्भ में ऐसा करना आवश्यक हो जाए। अतः, यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि वर्तमान जाँच जो सीधे तौर पर बख्शी गुलाम मोहम्मद के आचरण से संबंधित थी, इस अधिनियम के दायरे से बाहर है। इसके अतिरिक्त, यह भी कहा गया कि धारा 10, 'नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों' को एक वैधानिक स्वरूप प्रदान करती है, और इन सिद्धांतों के अनुप्रयोग का प्रावधान केवल ऐसी स्थिति के लिए करती है, जब आयोग द्वारा किसी व्यक्ति के आचरण की जाँच आनुषंगिक रूप से की जा रही हो। तब यह कहा गया था कि यह अधिनियम किसी व्यक्ति के आचरण की सीधी जाँच की परिकल्पना नहीं कर सकता था, क्योंकि इसमें विशेष रूप से यह प्रावधान नहीं था कि उस व्यक्ति को अपनी बात कहने का, प्रति-परीक्षा करने का और साक्ष्य प्रस्तुत करने का अधिकार हो ये अधिकार धारा 10 के तहत उस व्यक्ति को दिए गए थे, जिसके आचरण की जाँच केवल आनुषंगिक रूप से की जा रही हो। हम धारा 10 के संबंध में इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। धारा 3, जो जाँच आयोग की नियुक्ति की अनुमति देती है, इतनी व्यापक है कि वह किसी भी व्यक्ति के आचरण की जाँच को अपने दायरे में ले सकती है। अधिनियम की यह स्वाभाविक व्याख्या नहीं हो सकती कि धारा 10 से निकाले गए किसी निहितार्थ के आधार पर धारा 3 के दायरे को सीमित कर दिया जाए। हमारा यह भी मानना है कि यह तर्क निराधार है, क्योंकि हम इस बात से सहमत नहीं हो सकते कि धारा 10 उस व्यक्ति पर लागू नहीं होती, जिसके आचरण की जाँच धारा 3 के तहत गठित आयोग के समक्ष सीधे तौर पर की जा रही हो। हमें धारा 10 के शब्दों में ऐसा कुछ भी नहीं मिलता, जो इस दृष्टिकोण को सही ठहराता हो। यदि किसी व्यक्ति के आचरण की सीधे तौर पर जाँच करने के लिए कोई आयोग गठित किया जाता है, तो आयोग को यह आवश्यक प्रतीत होना चाहिए कि वह उस आचरण की जाँच करे; और इसलिए, ऐसा व्यक्ति धारा 10 के अंतर्गत आने वाला व्यक्ति माना जाएगा। यह वास्तव में बहुत ही विचित्र बात होगी यदि यह अधिनियम ऐसे व्यक्ति के अधिकारों का प्रावधान करता हो जिसके आचरण की जाँच संयोगवश हो जाती है, लेकिन ऐसे व्यक्तियों के मामले में ऐसा न करता हो जिनके आचरण की जाँच, आयोग गठित करने वाले आदेश के तहत, सीधे तौर पर की जानी है। यह भी उतना ही विचित्र होगा यदि यह अधिनियम किसी व्यक्ति के आचरण की जाँच को संयोगवश किए जाने की परिकल्पना करता हो, न कि सीधे तौर पर। जो कार्य परोक्ष रूप से किया जा सकता है, उसे स्पष्टतः प्रत्यक्ष रूप से किए जाने योग्य माना जाना चाहिए था। हमें अधिनियम की उस व्याख्या को स्वीकार करने का कोई औचित्य नहीं मिलता, जिसका सुझाव बख्शी गुलाम मोहम्मद के विद्वान अधिवक्ता ने दिया है।

अधिसूचना पर अगला आरोप यह था कि इसे गलत इरादे से जारी किया गया था। उच्च न्यायालय के एक विद्वान न्यायाधीश ने इस दलील को साफ तौर पर खारिज कर दिया, और बाकी न्यायाधीश भी इसी राय के लगते हैं, क्योंकि उन्होंने भी इसे स्वीकार नहीं किया। हमें भी इसे स्वीकार करने का कोई कारण नहीं दिखता। इस नज़रिए से, हम मामले के इस पहलू पर बहुत विस्तार से चर्चा करना ज़रूरी नहीं समझते। हमने मामले की मुख्य घटनाओं का ज़िक्र किया है, और इन्हीं पर गलत इरादे का आरोप आधारित है। इस बात पर कोई विवाद नहीं है कि कुछ समय से बख्शी गुलाम मोहम्मद और जी. एम. सादिक के बीच राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता चल रही थी। यह भी कहा गया था कि उनके बीच निजी दुश्मनी भी थी, क्योंकि जी. एम. सादिक अलग-अलग क्षेत्रों से बख्शी गुलाम मोहम्मद के गुट से जुड़े लोगों को हटाकर अपने रिश्तेदारों और समर्थकों के हितों को बढ़ावा देना चाहते थे। यह आरोप कि इसमें कोई निजी दुश्मनी थी, साबित नहीं माना जा सकता। असल में, यह आरोप कि इसमें कोई गलत इरादा था, राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता और 21 सितंबर, 1964 से हो रही घटनाओं पर आधारित है। यह कहा गया था कि बख्शी गुलाम मोहम्मद की गिरफ्तारी से लेकर जांच आयोग के गठन तक जो भी कदम उठाए गए, वे सभी उन्हें राजनीतिक जीवन से बाहर निकालने के इरादे से उठाए गए थे, ताकि जी. एम. सादिक के सामने एक राजनीतिक नेता के तौर पर कोई प्रतिद्वंद्वी न रहे। सबसे पहले, गिरफ्तारी की बात करते हैं। बख्शी गुलाम मोहम्मद का पक्ष यह था कि उनकी गिरफ्तारी गलत इरादे से की गई थी। दूसरी ओर, यह कहा गया था कि जुलाई 1964 के आस-पास से ही बख्शी गुलाम मोहम्मद पर सत्ता के दुरुपयोग के कई आरोप सरकार के संज्ञान में आए थे—जिनमें से कुछ आरोपों की जांच भी की गई—और इसके बाद सरकार के निर्देश पर 'अपराध जांच विभाग' द्वारा जांच शुरू की गई। जांच को रोकने के लिए बख्शी गुलाम मोहम्मद और उनके समर्थकों ने हंगामा और कानून-व्यवस्था के उल्लंघन के अन्य तरीके अपनाए, जिससे जनता की सुरक्षा और सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखने में खतरा पैदा हो गया। यह बताया गया कि पाकिस्तान और चीन के शत्रुतापूर्ण इरादों के कारण पिछले कुछ समय से कश्मीर में स्थिति आसान नहीं थी, और कानून-व्यवस्था के उल्लंघन ने स्थिति की गंभीरता को और बढ़ा दिया। यह कहा गया कि इन्हीं कारणों से बख्शी गुलाम मोहम्मद को 'डिफेंस ऑफ इंडिया रूल्स' (भारत रक्षा नियम) के तहत गिरफ्तार करके हिरासत में लेना पड़ा। बख्शी गुलाम मोहम्मद की ओर से यह कहा गया कि गिरफ्तारी से पहले, एक अविश्वास प्रस्ताव लाया गया था और उसे वास्तव में काफी समर्थन मिल रहा था, और यह गिरफ्तारी उस प्रस्ताव को नाकाम करने के लिए की गई थी। उस अविश्वास प्रस्ताव को कितना समर्थन प्राप्त था, यह हमें ज्ञात नहीं है। ऐसा लगता है

कि आपराधिक जांच विभाग पिछले कुछ समय से बख्शी गुलाम मोहम्मद के कामों की जाँच कर रहा था और कश्मीर में हालात बहुत ही संवेदनशील थे। इन परिस्थितियों में, यह नहीं कहा जा सकता कि बख्शी गुलाम मोहम्मद की गिरफ्तारी *दुर्भावनापूर्ण* ढंग से की गई थी। इसमें कोई शक नहीं कि उनकी रिहाई के लिए एक याचिका दायर किए जाने के बाद और उस याचिका पर सुनवाई होने से पहले ही उन्हें रिहा कर दिया गया था। ऐसा कहा गया था कि उन्हें इसलिए रिहा किया गया क्योंकि सरकार को लगा कि याचिका ज़रूर सफल होगी। हमारे सामने ऐसा कोई सबूत नहीं है जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि याचिका ज़रूर सफल होती। जी. एम. सादिक और डी. पी. धर की ओर से कहा गया कि उन्हें खराब सेहत की वजह से रिहा किया गया था। ऐसा नहीं लगता कि इस बात से इनकार किया गया हो। जी. एम. सादिक की ओर से यह भी कहा गया कि जाँच पूरी हो जाने के बाद, बख्शी गुलाम मोहम्मद के पास कानून-व्यवस्था तोड़ने के लिए लोगों को उकसाने का कोई कारण नहीं बचा था, और इसलिए उन्हें अब और हिरासत में रखना ज़रूरी नहीं था। हमारे सामने मौजूद सबूतों के आधार पर, हम यह नहीं कह सकते कि जी. एम. सादिक द्वारा पेश किया गया मामला स्वीकार नहीं किया जा सकता। जहाँ तक सभा के सत्रावसान का सवाल है, अपीलकर्ताओं का कहना है कि यह ज़रूरी था, क्योंकि यह आशंका थी कि अगर सभा की बैठक होती, तो बख्शी गुलाम मोहम्मद के समर्थकों द्वारा सदन के अंदर हंगामा खड़ा किया जा सकता था, जो उनकी गिरफ्तारी से नाराज़ थे। हमारे सामने मौजूद सामग्री के आधार पर, हम यह नहीं कह सकते कि यह आशंका मनगढ़ंत थी। अपीलकर्ताओं ने यह भी कहा कि सत्रावसान का फैसला बख्शी गुलाम मोहम्मद की गिरफ्तारी से पहले ही कर लिया गया था, लेकिन आदेश जारी नहीं किया जा सका, क्योंकि सदर-ए-रियासत 15 सितंबर, 1964 से पहले से ही श्रीनगर से बाहर थे जिस तारीख को गिरफ्तारी और सत्रावसान, दोनों का फैसला किया गया था और वे 21 सितंबर, 1964 को कुछ समय बाद ही वहाँ वापस लौटे। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि सदर-ए-रियासत उस तारीख को वापस आ गए थे। जैसा कि हमने कहा है, गिरफ़्तारी और सत्र का स्थगन अगले ही दिन, यानी 22 सितंबर, 1964 को हुआ था। बख्शी गुलाम मोहम्मद को 15 दिसंबर, 1964 को रिहा कर दिया गया था और जिस अधिसूचना को चुनौती दी गई थी, वह 30 जनवरी, 1965 को जारी की गई थी। इन तथ्यों के आधार पर, हम यह मानने में असमर्थ हैं कि बख्शी गुलाम मोहम्मद यह साबित कर पाए हैं कि यह जाँच राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता के कारण *दुर्भावनापूर्ण* ढंग से गठित की गई थी।

अपीलकर्ताओं की ओर से यह कहा गया है कि कोई राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता नहीं हो सकती थी, क्योंकि जैसा कि बख्शी गुलाम मोहम्मद के अपने ही शपथ पत्रों से

ज़ाहिर होता है, उन्होंने राजनीति से संन्यास लेने का अपना इरादा ज़ाहिर कर दिया था। बख्शी गुलाम मोहम्मद की ओर से यह कहा गया कि जी. एम. सादिक ने एक बयान दिया था कि एक जांच आयोग गठित होने के बाद उन्हें रिहा कर दिया जाएगा; और इससे यह साबित होता है कि उनकी हिरासत ' *दुर्भावनापूर्ण* ' से की गई थी, और यह इस बात का भी संकेत देता है कि अधिसूचना भी '*दुर्भावनापूर्ण* ' से ही जारी की गई थी। वह बयान हमारे सामने नहीं है। जी. एम. सादिक की ओर से यह कहा गया था कि ऐसा कोई बयान नहीं दिया गया था, और जो कहा गया था वह यह था कि आपराधिक जांच विभाग द्वारा जाँच पूरी होने के बाद उन्हें रिहा कर दिया जाएगा; क्योंकि उसके बाद, बख्शी गुलाम मोहम्मद के लिए सार्वजनिक शांति और सुरक्षा में खलल डालने का कोई अवसर नहीं रहेगा। यह भी कहा गया था कि इस बात का ज़िक्र किया गया था कि जाँच पूरी होने के बाद, एक जाँच आयोग का गठन किया जाएगा। इस बात से इनकार नहीं किया गया है। हालाँकि, इससे यह गिरफ़्तारी *दुर्भावनापूर्ण* साबित नहीं होती। बख्शी गुलाम मोहम्मद ने आगे कहा कि इस बयान से यह ज़ाहिर होता है कि आयोग का गठन उन्हें सार्वजनिक सुरक्षा और कानून-व्यवस्था में बाधा डालने से रोकने के लिए किया गया था, और इसलिए, यह जांच अधिनियम के दायरे से बाहर था। जी. एम. सादिक की ओर से इस बात से इनकार किया गया। उस बयान के अभाव में, हमारे लिए यह कहना असंभव है कि कौन सा पक्ष सही है। एक और मुद्दा यह उठाया गया कि अपीलकर्ताओं की ओर से दायर शपथ पत्रों से यह पता चलता है कि सरकार उन आरोपों की सत्यता को लेकर संतुष्ट थी, जिनकी जांच का निर्देश दिया गया था। यह तर्क दिया गया कि चूंकि जांच का उद्देश्य तथ्यों का पता लगाना है, इसलिए यदि सरकार पहले से ही उन तथ्यों को लेकर संतुष्ट थी, तो आगे किसी जांच की कोई आवश्यकता नहीं थी। इस तर्क में बिल्कुल भी दम नहीं है। शपथ पत्रों में असल में यह कहा गया था कि सरकार *प्रथम दृष्टया* संतुष्ट थी। जांच करने के लिए आयोग ईमानदारी से गठित करने से पहले, उन्हें ऐसा होना ही था। जी. एम. सादिक की ओर से यह कहा गया कि आयोग गठित करने से पहले, सरकार ने 'आपराधिक जांच विभाग' के ज़रिए तथ्यों की जांच की थी; और अगर सरकार की नीयत *दुर्भावनापूर्ण* होती, तो वे आपराधिक कार्यवाही शुरू करके बख्शी गुलाम मोहम्मद का राजनीतिक जीवन बर्बाद कर सकते थे, और उन्हें लंबे समय तक व्यस्त रखकर राजनीति से दूर रख सकते थे। यह भी बताया गया कि इसका बख्शी गुलाम मोहम्मद के लिए गंभीर परिणाम हो सकता था, जो कि 'जांच आयोग' के मामले में नहीं होता। यह भी बताया गया कि नियुक्त किए गए आयुक्त, भारत के सर्वोच्च न्यायालय के एक सेवानिवृत्त न्यायाधीश थे। यह सब, जैसा कि कहा गया, इस बात का

संकेत देता है कि यह कार्रवाई किसी द्वेष या दुर्भावना से प्रेरित नहीं थी। हम यह नहीं कह सकते कि अपीलकर्ताओं के इन तर्कों में कोई दम नहीं है।

अधिसूचना पर हमले का अगला आधार अनुच्छेद 14 था। यह कहा गया कि जिन ज़्यादातर मामलों की जाँच करने का निर्देश आयोग को दिया गया था, वे मंत्रिमंडल के फ़ैसलों से जुड़े मामले थे। यह बताया गया कि चूँकि ऐसे मामले गोपनीय होते हैं और किसी को भी यह बताने की इजाज़त नहीं होती कि मंत्रिमंडल के सदस्यों ने उन पर किस तरह वोट दिया, इसलिए यह माना जाना चाहिए कि मंज़ूर किए गए कामों के लिए वे सभी समान रूप से ज़िम्मेदार थे। ऐसा होने पर, यह तर्क दिया गया कि जाँच के मकसद से पूरी मंत्रिमंडल में से सिर्फ़ बख्शी गुलाम मोहम्मद को चुनकर सरकार ने उनके साथ भेदभावपूर्ण और शत्रुतापूर्ण रवैया अपनाया है। यह तर्क दिया गया था कि उस आधार पर अधिसूचना को रद्द कर दिया जाना चाहिए। हम इस तर्क को अस्वीकार्य पाते हैं। यह जाँच बख्शी गुलाम मोहम्मद और उनके मित्रों तथा रिश्तेदारों द्वारा अपने सरकारी पद का दुरुपयोग करके अर्जित की गई संपत्ति के संबंध में है। यह बात विचित्र होगी यदि मंत्रिमंडल के सभी सदस्यों ने स्वेच्छा से बख्शी गुलाम मोहम्मद और उनके मित्रों की जेबों में पैसा डालने के लिए अपने पद का दुरुपयोग किया हो। तथापि, आइए हम यह मान लें कि मंत्रिमंडल के सभी सदस्यों ने इस संपत्ति को बढ़ाने में बख्शी गुलाम मोहम्मद की सहायता की थी। फिर भी, यह नहीं कहा गया है कि अन्य सदस्यों ने इन कृत्यों के माध्यम से संपत्ति अर्जित की थी। अतः, वह अपने आप में एक विशिष्ट श्रेणी के व्यक्ति थे। इस वर्गीकरण का आयोग की स्थापना के साथ एक तार्किक संबंध भी है, क्योंकि इसका उद्देश्य यह पता लगाना है कि क्या बख्शी गुलाम मोहम्मद ने अपने सरकारी पद का दुरुपयोग करके संपत्ति अर्जित की थी।

अब आखिरी बिंदु पर विचार करना बाकी है। यह बिंदु आयोग की कार्यवाही के विरुद्ध उठाया गया था। यह कहा गया था कि कार्यवाही इस तरह से संचालित की गई थी जो नैसर्गिक न्याय के नियमों और वैधानिक प्रावधानों के विपरीत थी। दो विशिष्ट शिकायतें की गईं। पहली शिकायत यह थी कि आयोग ने बख्शी गुलाम मोहम्मद को, उनके विरुद्ध लगाए गए आरोपों का जवाब देने के लिए बुलाए जाने से पहले, सभी संबंधित दस्तावेजों का निरीक्षण करने की अनुमति नहीं दी थी। दूसरी शिकायत यह थी कि आयोग ने उन्हें उन व्यक्तियों से प्रति-परीक्षा करने की अनुमति देने से इनकार कर दिया था, जिन्होंने उनके विरुद्ध लगाए गए आरोपों के समर्थन में शपथ-पत्र दाखिल किए थे। अब हमें आयोग द्वारा अपनाई गई कार्यप्रणाली का

विवरण प्रस्तुत करना है। आयोग ने सबसे पहले सरकार से यह अपेक्षा की कि वह अधिसूचना की दूसरी अनुसूची में उल्लिखित आरोपों के समर्थन में शपथ-पत्र दाखिल करे और उन दस्तावेजों को प्रस्तुत करे जो उन आरोपों की पुष्टि करते हों। इसके बाद उसने बख्शी गुलाम मोहम्मद से जवाब में अपना शपथ-पत्र दाखिल करने को कहा। उसके बाद आयोग ने तय किया कि क्या बख्शी गुलाम मोहम्मद के खिलाफ कोई *प्रथम दृष्टया* मामला बनता है, जिसका उन्हें जवाब देना हो; और इस प्रक्रिया में उसने कुछ आरोपों को खारिज कर दिया। बख्शी गुलाम मोहम्मद को बताया गया कि इन आरोपों के संबंध में उनके खिलाफ कोई ऐसा मामला नहीं बनता, जिसका उन्हें जवाब देना पड़े। बाकी बचे आरोपों में से, अंतिम विचार के लिए एक समूह चुना गया, और यह तय किया गया कि बाकी आरोपों पर उसके बाद धीरे-धीरे विचार किया जाएगा। मामलों के उस समूह के संबंध में, बख्शी गुलाम मोहम्मद के वकील ने उन सभी लोगों से प्रति-परीक्षा करने की इच्छा जताई, जिन्होंने उस समूह में शामिल मामलों में सरकार के आरोपों के समर्थन में शपथ पत्र दाखिल किए थे। कमिश्नर ने आदेश दिया कि वह शपथ पत्रों दाखिल करने वाले सभी व्यक्तियों से प्रति-परीक्षा करने की अनुमति नहीं देंगे, बल्कि हर मामले पर अलग से निर्णय लेंगे। इसी के बाद रिट याचिका प्रस्तुत की गई।

जांच-पड़ताल का सवाल अब कोई प्रासंगिक मुद्दा नहीं रह गया है। यह सच है कि जब बख्शी गुलाम मोहम्मद को अपने शपथ-पत्र दाखिल करने का निर्देश दिया गया था, तब उन्हें उन सभी दस्तावेजों और फाइलों की जांच करने की अनुमति नहीं दी गई थी, जिनका इस्तेमाल सरकार अपने मामले के समर्थन में करने वाली थी। बख्शी गुलाम मोहम्मद की ओर से यह तर्क दिया गया था कि यह 'प्राकृतिक न्याय के नियमों' का उल्लंघन है। इस सवाल पर विचार करना अब ज़रूरी नहीं है, क्योंकि यह स्वीकार किया जा चुका है कि तब से लेकर अब तक, सभी फाइलों और दस्तावेजों की जांच करने की अनुमति दे दी गई है। इसलिए, आरोपों की अंतिम सुनवाई के दौरान, बख्शी गुलाम मोहम्मद को अब किसी भी तरह की कोई हानि या नुकसान नहीं होगा।

अगला बिंदु प्रति-परीक्षा के अधिकार के बारे में है। यह दावा पहले प्राकृतिक न्याय के नियमों पर आधारित था। कहा गया था कि इन नियमों के अनुसार बख्शी गुलाम मोहम्मद को उन सभी लोगों से प्रति-परीक्षा का अधिकार दिया जाना चाहिए था जिन्होंने उनके खिलाफ आरोपों का समर्थन करते हुए शपत पत्र दिया था। हमें प्राकृतिक न्याय के ऐसे किसी नियम के बारे में पता नहीं है। इसके समर्थन में किसी प्राधिकारी का हवाला नहीं दिया गया है। हमारा ध्यान *मींगलास टी एस्टेट्स बनाम उनके कर्मचारी* (') की ओर दिलाया गया, लेकिन वहां बस इतना कहा गया था कि जब

किसी व्यक्ति के खिलाफ मौखिक परीक्षा का सबूत दिया जाता है, तो उसे सुनने और गवाहों के सवालों को प्रति-परीक्षा में रखने का मौका मिलना चाहिए। यह हमारा मामला नहीं है। इसके अलावा, *मींगलास टी एस्टेट मामले*[1] में न्यायालय हमारी तरह किसी तथ्य-खोज निकाय के साथ काम नहीं कर रहा था। प्राकृतिक न्याय के नियमों के अनुसार जिस पक्ष के खिलाफ आरोप की जांच की जा रही है, उसे सुनवाई का मौका दिया जाना चाहिए। बख्शी गुलाम मोहम्मद को निश्चित रूप से यह मौका दिया गया था। यह कहा गया था कि सुनवाई के अधिकार में प्रति-परीक्षा करने का अधिकार भी शामिल है। हम इस बात से सहमत नहीं हो सकते कि ऐसा है। यह अधिकार हर मामले की परिस्थितियों पर निर्भर होना चाहिए, और उस कानून पर भी निर्भर होना चाहिए जिसके तहत आरोपों की जाँच की जा रही है। इस न्यायालय ने *नागेंद्र नाथ बोरा बनाम पहाड़ी प्रभाग एवं अपील आयुक्त, असम*[2] के मामले में यह निर्णय दिया था कि "नैसर्गिक न्याय के नियम, सांविधिक निकायों की अलग-अलग संरचना और उस अधिनियम द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार बदलते रहते हैं जिसके तहत वे कार्य करते हैं; और यह प्रश्न कि क्या नैसर्गिक न्याय के किसी नियम का उल्लंघन हुआ है या नहीं, इसका निर्णय किसी पूर्व-कल्पित धारणाओं के आधार पर नहीं, बल्कि सांविधिक नियमों और प्रावधानों के आलोक में किया जाना चाहिए।" हमें यह याद रखना होगा कि हम एक ऐसे कानून पर विचार कर रहे हैं जो तथ्यों की जाँच के उद्देश्य से एक जाँच आयोग गठित करने की अनुमति देता है। आयोग की अभिलेख का *अपने आप में* कोई कानूनी ज़ोर नहीं होता। मामले का यह पहलू, इस बात का फ़ैसला करने में अहम है कि इस अधिनियम के तहत जांच आयोग की कार्यवाही में 'प्राकृतिक न्याय' के कौन से नियम उचित रूप से लागू होंगे। फिर हम पाते हैं कि धारा 10, जिसका ज़िक्र हमने पहले किया है, 'सुने जाने का अधिकार' तो देती है, लेकिन 'प्रति-परीक्षा का अधिकार' सिर्फ़ सीमित रूप में देती है। प्रति-परीक्षा का यह अधिकार सिर्फ़ उन गवाहों तक ही सीमित है जिन्हें उस व्यक्ति के ख़िलाफ़ गवाही देने के लिए बुलाया गया हो, जो इस अधिकार की मांग कर रहा है। इसलिए, अधिनियम में यह नहीं सोचा गया था कि 'सुने जाने के अधिकार' में 'प्रति-परीक्षा का अधिकार' भी शामिल होगा। यह सोचना स्वाभाविक है कि कानून का यह इरादा नहीं था कि अन्य मामलों में, आयोग के सामने पेश होने वाले किसी भी पक्ष को प्रति-परीक्षा का कोई और अधिकार मिले। इसलिए, हमारा मानना है कि बख्शी गुलाम मोहम्मद ने ऐसा कोई मामला पेश नहीं किया है जिससे यह साबित हो कि 'प्राकृतिक न्याय' के नियमों के तहत उन्हें उन सभी लोगों से प्रति-परीक्षा करने का अधिकार मिलना चाहिए, जिन्होंने उनके ख़िलाफ़ लगाए गए आरोपों के समर्थन में शपथ-पत्र दिए थे।

2. [1964] एस. सी. आर. 105
3. [1953] एस. सी. आर. 1240

अब हम वैधानिक प्रावधान पर आधारित, प्रति-परीक्षा करने के अधिकार के दावे पर विचार करेंगे। यह दावा अधिनियम की धारा 4(सी) पर आधारित है। इस धारा का प्रासंगिक भाग इस प्रकार है:—

"आयोग के पास, सिविल प्रक्रिया संहिता, संवत् 1977 के तहत किसी वाद की सुनवाई करते समय, निम्नलिखित मामलों के संबंध में एक सिविल न्यायालय की शक्तियाँ होंगी, अर्थात्:—

(अ) किसी भी व्यक्ति को समन भेजना और उसकी उपस्थिति को लागू करना तथा शपथ पर उसकी परीक्षा करना;

(ब)

(स) शपथ-पत्रों पर साक्ष्य प्राप्त करना।"

इस बात पर कोई विवाद नहीं है कि इस धारा में जिस जम्मू और कश्मीर राज्य की सिविल प्रक्रिया संहिता का ज़िक्र किया गया है, वह भारतीय सिविल प्रक्रिया संहिता के ही समान है। भारतीय संहिता का आदेश 19 नियम 1 इस प्रकार है:

"कोई भी न्यायालय, किसी भी समय, पर्याप्त कारण होने पर यह आदेश दे सकता है कि कोई विशेष तथ्य या तथ्यों को शपथ-पत्र द्वारा सिद्ध किया जाए, या किसी गवाह का शपथ-पत्र सुनवाई के दौरान पढ़ा जाए, और ऐसा उन शर्तों पर किया जाएगा जिन्हें न्यायालय उचित समझे:

परंतु, जहाँ न्यायालय को यह प्रतीत होता है कि कोई भी पक्ष *ईमानदारी से* किसी गवाह को प्रति-परीक्षा के लिए पेश करवाना चाहता है, और यह कि ऐसे गवाह को पेश किया जा सकता है, तो ऐसा कोई आदेश नहीं दिया जाएगा जो ऐसे गवाह की गवाही को शपथ-पत्र के माध्यम से देने की अनुमति देता हो।"

तर्क यह है कि इसलिए, किसी तथ्य को शपथ-पत्र के माध्यम से सिद्ध करने का आदेश देने की आयोग की शक्तियाँ इस शर्त के अधीन हैं कि इस शक्ति का प्रयोग तब नहीं किया जा सकता, जब कोई पक्ष शपथ-पत्र देने वाले व्यक्तियों को प्रति-परीक्षा के लिए प्रस्तुत किए जाने की माँग करता हो।

उच्च न्यायालय ने इस दलील को मान लिया था। हम इस मामले पर अलग नज़र रखते हैं। सबसे पहले हम यह देखते हैं कि आयोग के सामने होने वाली जाँच, तथ्यों का पता लगाने वाली जाँच होती है। फिर हम यह देखते हैं कि धारा 10, जो हमारी राय में, उस व्यक्ति पर लागू होती है जिसके आचरण की जाँच सीधे तौर पर आयोग द्वारा की जाती है, उसे केवल उन लोगों से प्रति-परीक्षा करने का अधिकार है जो आयोग के सामने उसके खिलाफ मौखिक गवाही देते हैं। यदि धारा 4(सी) जाँच से जुड़े

तथ्यों के बारे में शपथ-पत्र देने वाले हर व्यक्ति से प्रति-परीक्षा करने का अधिकार देती, तो धारा 10(2) बेमानी हो जाती। ऐसा नतीजा देने वाली व्याख्या सही नहीं हो सकती। हमें यह भी लगता है कि आदेश 19 नियम 1 को आदेश 18 नियम 4 के साथ पढ़ा जाना चाहिए, जिसमें कहा गया है कि उपस्थित गवाहों की गवाही खुली अदालत में मौखिक रूप से ली जाएगी। इसलिए, ऐसा लगता है कि आदेश19 नियम 1 को आदेश 18 नियम 4 में दिए गए प्रावधानों के एक तरह के अपवाद के तौर पर रखा गया है। इस अधिनियम में आदेश 18 नियम 4 जैसा कोई प्रावधान नहीं है। इसलिए, जब अधिनियम की धारा 4(सी) ने आयोग को शपथ पत्रों के आधार पर सबूत लेने की शक्ति दी, तो उसने यह शक्ति एक स्वतंत्र शक्ति के तौर पर दी, न कि खुली अदालत में मौखिक रूप से सबूत लेने के आम नियम के अपवाद के तौर पर। ऐसी परिस्थितियों में यह सोचना स्वाभाविक होगा कि अधिनियम ने केवल शपथ पत्रों के ज़रिए सबूत लेने की शक्ति दी थी, और उसका यह इरादा नहीं था कि यह शक्ति आदेश 19 नियम 1 में दिए गए परंतुक के अधीन हो। अगर ऐसा न होता, तो इसका नतीजा यह होता कि आयोग के सामने सभी सबूत खुली अदालत में मौखिक रूप से देने ज़रूरी हो जाते। अगर ऐसा इरादा होता, तो इसे अधिनियम में साफ़ तौर पर बताया गया होता। हमें यहाँ *खांडेश स्पिनिंग वगैरह कंपनी लिमिटेड बनाम राष्ट्रीय गिरनी कामगार संघ*[4] का ज़िक्र करना चाहिए, जहाँ इस न्यायालय ने धारा 4(सी) जैसी ही एक धारा पर विचार करते हुए कहा था कि तथ्य आदेश 19 नियम (1) के अधीन रहते हुए हलफ़नामे के ज़रिए साबित किए जा सकते हैं। ये टिप्पणियाँ शायद *अतिरिक्त टिप्पणियाँ* थीं। किसी भी हाल में, वह मामला उस कानून से अलग था जो हमारे सामने है। वहाँ की गई टिप्पणी जम्मू और कश्मीर जाँच एक्ट की व्याख्या करने में ज़्यादा मददगार नहीं हो सकती। सरकार की तरफ़ से हलफ़नामा देने वाले गवाहों की संख्या अक्सर बहुत ज़्यादा हो सकती है। असल में, इस मामले में सरकार की तरफ़ से हलफ़नामा देने वाले गवाहों की संख्या, ऐसा लगता है, लगभग चार सौ है। कानून का यह आशय नहीं हो सकता था कि उन सभी की जांच खुली अदालत में की जाए और उनसे प्रति-परीक्षा की जाए, क्योंकि ऐसा होने पर, आयोग की कार्यवाही कभी खत्म ही नहीं होगी। हमें इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस अधिनियम का उद्देश्य आयोग के समक्ष आने वाले मामलों का त्वरित निपटारा करना था, क्योंकि, अन्यथा, इसके पीछे का उद्देश्य ही विफल हो सकता था। इस विषय पर बात करते हुए, हम आयोग से यह आग्रह करेंगे कि जांच का शीघ्र निपटारा किया जाए। इन्हीं कारणों से, हमारी राय में, अधिनियम की धारा 4(सी) आयोग के समक्ष पेश होने वाले किसी भी पक्ष को यह अधिकार नहीं देती है कि वह किसी ऐसे गवाह को, जो शपथ पत्रों के माध्यम से गवाही दे रहा है, प्रति-परीक्षा के लिए व्यक्तिगत रूप से पेश

4. [1960] 2 एस. सी. आर. 841

करने की मांग करे। आयोग, बेशक, ऐसे किसी मामले में प्रति-परीक्षा की अनुमति देगा जहाँ उसे यह आवश्यक लगे। हमारा जो दृष्टिकोण है, उससे किसी भी पक्ष को कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। वह हमेशा अपनी ओर से शपथ पत्रों दाखिल करके, दूसरे पक्ष की ओर से दाखिल शपथ पत्रों में लगाए गए आरोपों का खंडन कर सकता है। यदि दोनों पक्षों की ओर से साक्ष्य शपथ पत्रों के माध्यम से प्रस्तुत किए जाते हैं, तो किसी को भी कोई विशेष नुकसान नहीं होना चाहिए। हमें यह भी याद रखना होगा कि अधिनियम की धारा 9 आयोग को यह शक्ति देती है कि वह अधिनियम के तहत बनाए गए नियमों के अधीन रहते हुए, अपनी कार्य-प्रक्रिया को स्वयं विनियमित करे। हम पाते हैं कि नियमों में यह प्रावधान है कि साक्ष्य शपथ-पत्रों के माध्यम से दिया जा सकता है, और आयोग, उन्हें पढ़ने के बाद यदि वह ऐसा करना आवश्यक समझता है तो शपथ-पत्र देने वालों के साथ-साथ अन्य लोगों के साक्ष्य भी दर्ज कर सकता है; नियम 6, 7 और 8 देखें। नियम 10, धारा 10 द्वारा दिए गए प्रति-परीक्षा के सीमित अधिकार को दोहराता है। नियम 11 कहता है कि जिन मामलों के संबंध में नियमों में कोई प्रावधान नहीं है, उन सभी मामलों में आयोग अपनी स्वयं की कार्य-प्रणाली तय कर सकता है। नियमों के अंतर्गत आने वाले मामलों में से एक, गवाहों की प्रति-परीक्षा का मामला है। अतः, नियम प्रति-परीक्षा को एक प्रक्रियागत विषय के रूप में देखते हैं, और आयोग यह तय करने के लिए स्वतंत्र है कि वह किस प्रकार की प्रति-परीक्षा की अनुमति देगा; बशर्ते कि ऐसा करते समय वह प्रति-परीक्षा से संबंधित नियमों का उल्लंघन न करे। अधिनियम की धारा 9 को इन्हीं नियमों के आलोक में पढ़ा जाना चाहिए। हमें लगता है कि ये सभी बातें, धारा 4(सी) पर हमारी व्याख्या का समर्थन करती हैं। हमें यह भी लगता है कि आयोग जैसे निकाय के समक्ष अपनाई जाने वाली प्रक्रिया का लचीला होना अनिवार्य है। इसलिए, हम अंतिम तर्क को अस्वीकार करते हैं।

हमारी राय में, इन कारणों से, उच्च न्यायालय के निर्णय का समर्थन नहीं किया जा सकता। तदनुसार, हम इसे रद्द करते हैं। अपील स्वीकार की जाती है।

अपील स्वीकार की गई।

यह अनुवाद (तलत परवीन) पैनल अनुवादक के द्वारा किया गया।